



मध्यप्रदेश में प्रचलित विभिन्न शास्त्रीय संगीत की धाराओं का अध्ययन

शिल्पी मिश्रा

शोधार्थी संगीत

शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

डॉ. देवाशीष बनर्जी

विभागाध्यक्ष संगीत

शासकीय कन्या स्नातकोत्तर महाविद्यालय, रीवा (म.प्र.)

सारांश –

भारतीय संगीत का अभिन्न हिस्सा शास्त्रीय संगीत है, इसे ही क्लासिक म्यूजिक के नाम से सम्बोधित करते हैं। शास्त्रीय गायन सुरप्रधान होता है, इसमें शब्द प्रधान कदापि नहीं होता। शास्त्रीय संगीत में सुर का अत्यधिक महत्व होता है। शास्त्रीय संगीत को शास्त्रीय संगीत ध्वनि विषयक साधना के अभ्यस्त काम ही समझ सकते हैं। भारतीय शास्त्रीय संगीत की परम्परा भरत भूमि के नाटयशास्त्र एवं उससे पूर्व सामवेद के गायन तक जाता है। भरत मुनि के माध्यम से रचित भरत नाटय शास्त्र, भारतीय संगीत के इतिहास का पहला लिखित प्रमाण मानी जाती है। इसकी रचना के अवधि के विषय में कई मतभेद हैं। वर्तमान समय के भारतीय शास्त्रीय संगीत के अनेक पक्षों का उल्लेख इस प्राचीन ग्रंथ में पायी जाती है। भरत मुनि के नाटयशास्त्र के पश्चात मतंग मुनि की बहदेशी तथा सारंगदेव रचित संगीत रत्नाकार, ऐतिहासिक दृष्टिकोण से सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रंथ मानी जाती है। 12वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखी 7 अध्यायों वाले इस ग्रंथ में संगीत एवं नृत्य का व्यापक उल्लेख मिलती है।



मुख्य शब्द – भारतीय संगीत, शास्त्रीय संगीत, शास्त्रीय गायन एवं सुर।

प्रस्तावना –

संगीत की दोनों धाराओं में शास्त्रीय संगीत का एक विशिष्ट स्वरूप है जिसके अनुसार इसमें परिवर्तन की संभावना अत्यन्त कम होती है, जिसके कारण यह अपने अंदर विलक्षणता समेटे होता है जो गायक व श्रोता दोनों के लिये संगीत को श्रमसाध्य बना देता है। दोनों में से किसी एक को भी इसकी जानकारी न होने की दशा में इस संगीत का प्रदर्शन कभी-कभी निरर्थक या नीरस तक हो जाता है। इन्हीं कारणों से सामान्य श्रोताजन का अधिक झुकाव शास्त्रीय से हटकर अन्य संगीत प्रकार की ओर हो जाता है जो कि सुगम संगीत के ही प्रतिनिधि प्रकार होते हैं। ध्रुपद, धमार तथा ख्याल जिनकी आज शास्त्रीय संगीत में गणना होती है मूलतः लोक संगीत की शैलियाँ रही हैं। इन्हीं प्रादेशिक शैलियों को आज 'मार्ग' या शास्त्रीय संगीत में स्थान प्राप्त है। विभिन्न कालों के विकासक्रम में ये सभी शैलियाँ शास्त्रीय संगीत से अलग देशी संगीत के अन्तर्गत मानी जाती रही है जिनका विकास हो जाने तथा उन्हें शास्त्रबद्ध किये जाने पर इन्हें ही शास्त्रीय संगीत माना गया।

संगीत रत्नाकर में अनेक तालों का वर्णन है और इस ग्रंथ से मालुम होता है कि प्राचीन भारतीय पारम्परिक संगीत में परिवर्तन आना प्रारम्भ हो चुका था तथा संगीत पूर्व से उदार होने लगा था, लेकिन मूलतन्त्र

एक ही रहे। 11वीं एवं 12वीं सदी में मुस्लिम सभ्यता के प्रसार द्वारा उत्तर भारतीय संगीत की दिशा को नवीन आयाम प्रदान किया है। राजदरबार संगीत के प्रमुख संरक्षक बने तथा जहाँ कई शासकों द्वारा प्राचीन भारतीय संगीत की समृद्ध परम्परा को प्रोत्साहन दिये नहीं अपनी जरूरत एवं रुचि के अनुरूप उन्होंने इनमें कई बदलाव भी किया। इसी समयावधि कई नवीन शैलियाँ भी थी जो प्रचलन में आया यथा सितार एवं सरोज आदि।

वैदिक काल से शुरू हुई भारतीय वाद्यों की यात्रा क्रमशः एक के पश्चात द्वितीय विशेषता से इन यंत्रों को संवारती गयी। एक लंबी वीणा ही त्रितंकी बने तथा सारिका युक्त होकर मध्यकाल में यह जंत्र कहलाने लगा तो बंगाल के कारीगरों के माध्यम से आज भी इस नाम से सम्बोधित किया जाता है। भारत में पहुँची मुस्लिम संगीतकार तीन तार वाली वीणा का सह (तीन) + तार सहतार या सितार कहलाने लगे। इसी प्रकार सप्त तंबी या चित्र वीणा, सरोद कहलाने लगी जिस वजह से भारतीय संगीत पर मुस्लिम संस्कृति एवं इस्लाम का प्रभाव अत्यधिक महसूस की गयी। जबकि दक्षिणी भारत में प्रचलित संगीत किसी तरह के मुस्लिम प्रभाव से अछूता रहा। पश्चात में सूफी आंदोलन ने भी शास्त्रीय संगीत पर अपना प्रभाव जमाया। आगे चलकर देश के भिन्न भिन्न भागों में अनेक नवीन प्रणालियों एवं घरानों का जन्म हुआ। ब्रिटिश संगीत से भी शास्त्रीय संगीत का परिचय हुआ। सामान्य जनमानस में लोकप्रिय आज का वाद्य हारमोनियम उसी समय प्रचलन में आया। इस प्रकार शास्त्रीय संगीत के उत्थान एवं उनमें बदलाव लाने में प्रत्येक काल का अपना महत्वपूर्ण योगदान रहा। संगीत रत्नाकर काल के बाद के काल में संगीत का अर्थ गान एवं वादन से ही लिया जाने लगा था। हमारे देश में संगीत से अभिप्राय गीत, वाद्य एवं नृत्य की प्रथा से ही है किन्तु व्यवहार को पृथक रूप से भी परिमाणित किया जाता है।

विश्लेषण –

संगीत की दोनों धाराओं में शास्त्रीय संगीत का एक विशिष्ट स्वरूप है जिसके अनुसार इसमें परिवर्तन की संभावना अत्यन्त कम होती है, जिसके कारण यह अपने अंदर विलक्षणता समेटे होता है जो गायक व श्रोता दोनों के लिये संगीत को श्रमसाध्य बना देता है। दोनों में से किसी एक को भी इसकी जानकारी न होने की दशा में इस संगीत का प्रदर्शन कभी-कभी निरर्थक या नीरस तक हो जाता है। इन्हीं कारणों से सामान्य श्रोताजन का अधिक झुकाव शास्त्रीय से हटकर अन्य संगीत प्रकार की ओर हो जाता है जो कि सुगम संगीत के ही प्रतिनिधि प्रकार होते हैं। ध्रुपद, धमार तथा ख्याल जिनकी आज शास्त्रीय संगीत में गणना होती है मूलतः लोक संगीत की शैलियाँ रही हैं। इन्हीं प्रादेशिक शैलियों को आज 'मार्ग' या शास्त्रीय संगीत में स्थान प्राप्त है। विभिन्न कालों के विकासक्रम में ये सभी शैलियाँ शास्त्रीय संगीत से अलग देशी संगीत के अन्तर्गत मानी जाती रही है जिनका विकास हो जाने तथा उन्हें शास्त्रबद्ध किये जाने पर इन्हें ही शास्त्रीय संगीत माना गया।

संगीत की दो मुख्य धारायें अतिप्राचीन काल से चली आ रही हैं। इन दोनों मुख्य धाराओं के अन्तर्गत भारत में शास्त्रीय संगीत को दो मुख्य पद्धतियाँ प्रचलित है – पहला उत्तरी भारत का हिन्दुस्तानी संगीत तथा दूसरा दक्षिणी भारत का कर्नाटकी संगीत। इन दोनों में कर्नाटकी संगीत को प्राचीनतम् संगीत माना जाता है, विद्वानों द्वारा इस संगीत को ही भारत के प्राचीन संगीत का मूल स्वरूप माना है। भारत में मुसलमानों के आगमन के पश्चात् उनके द्वारा लाये गये संगीत के प्रभाव से भारतीय संगीत की शैलियों में विभिन्न परिवर्तन हुए। भारतीय संगीत का यही प्रवर्तित संगीत ही कालांतर में उत्तर भारत का संगीत कहलाया। संगीत में आये इन्हीं परिवर्तनों से भारत के उत्तर भारतीय संगीत में विभिन्न नवीन गायन शैलियों का विकास हुआ जो आज के वर्तमान शास्त्रीय संगीत में प्रतिष्ठित स्थान रखते हैं, ध्रुपद, ख्याल गायन आदि उनमें से एक है।

(1) प्रबंध – प्रबंध गायन शैली ध्रुपद, धमार गायन शैली के पूर्व की गायन शैली मानी जाती है। प्रबंध गायन का स्थान उस समय सर्वोच्च माना जाता था। प्रबंध गायन में बंदिशें सुनियोजित तरीके से राग एवं ताल बद्ध होता है। विद्वानों के अनुसार प्रबंध गायन शैली से वर्तमान ध्रुपद, धमार गायन शैली का अविर्भाव हुआ है।

(2) ध्रुपद – प्राचीन प्रबंध गान शैली से इस गायन शैली का उद्भव माना जाता है। अतः शास्त्रीय संगीत के गायन प्रकारों के अन्तर्गत यह सर्वाधिक प्राचीन गायन प्रकार माना जा सकता है। भरत काल में ध्रुवा-गीतों का सर्वाधिक महत्व था जो प्रबंध गायन शैली के अन्तर्गत आता था, सम्भवतः इन्हीं ध्रुवागीतों से ध्रुपद का उद्भव हुआ है।

ध्रुपद का सर्वाधिक प्रचार प्रसार मध्ययुग में आरंभ हुआ, मध्ययुगीन ध्रुपद शैली के प्रचार हेतु मुख्य श्रेय राजा मान सिंह के ग्रंथ मानकुतूहल को जाता है। जिसमें ध्रुपद के सभी पहलुओं का विवरण दिया गया था। इसमें स्वर लय तथा साहित्य इन तीनों अंगों का समुचित संयोग अपेक्षित रहता है। कालिदास सुबंधु तथा बाण जैसे संस्कृत कवियों की कृति में ध्रुवगीतों का उल्लेख है। इन्हीं ध्रुवगीतों में आवश्यक परिवर्तनों के साथ मध्यकालीन ध्रुपदों का विकास हुआ। ध्रुपद शैली का प्रचार मंदिरों तथा राजदरबार दोनों जगहों पर रहा तथा दोनों स्वरूपों में अलग-अलग इस शैली का विकास होता रहा। मध्यकालीन ध्रुपदों में तीन खण्ड होते थे जिन्हें धातु अथवा तुक कहा जाता था। इनके क्रमशः नाम थे – उद्गाह, ध्रुवक और आभोग। इन्हीं को कालक्रम में स्थायी अंतरा संचारी तथा आभोग कहा जाने लगा। प्रचलित ध्रुपदों में प्रायः यही चार भाग पाये जाते हैं। अनेक ध्रुपदों में स्थायी और अंतरा यही दो भाग होते हैं।

ध्रुपद मूलतः एक शब्द प्रधान गीत शैली है। इसमें शब्दों के स्पष्ट उच्चारण का विशेष महत्व है। शब्द इस शैली का प्राणभूत तत्व है और उसको भावमय करने का माध्यम स्वर है। शब्द, स्वर और ताल इन तीनों का समुचित अवधान रखना सफल ध्रुपद गायन का आवश्यक अंग है। ध्रुपद में स्वरों तथा बोलों का खुला एवं स्पष्ट लगाव एक अपना महत्व रखता है। कंठ को दबाना, नजाकत से स्वर लगाना आदि बातें इस शैली में सर्वथा वर्जित हैं। ध्रुपद शब्द प्रधान होने के कारण इसकी शैली आलाप प्रधान होना आवश्यक है। इसकी बढत आलापों या बेहलावों के माध्यम से की जाती है। ख्याल की भाँति आकार वाली तानबाजी इसमें सर्वथा वर्जित है। परन्तु बोलतान, गमकतान, भीड़, आंदोलन, हलक-लहक इत्यादि इसके खास अलंकार हैं। इसकी अलाप प्रणाली के दो रूप हैं –

- (1) गीत को आरंभ करने से पूर्व आलापचारी करना और
- (2) गीत आरम्भ कर उसके शब्दों के साथ अलाप करना।

प्रथम प्रणाली को नोम-तोम कहा जाता है। यह आलाप तोम, नोम, रेना, तनना जैसे शुष्कोक्षरों से किये जाते हैं। इसमें बीन के आलापों की भाँति राग के अनुकूल आलाप विलंबित, मध्य एवं द्रुत लय में क्रमशः किये जाते हैं।

ध्रुपद के साथ ताल की संगति मुदंग अथवा पखावज के द्वारा की जाती है। इसमें निम्न तालों का विशेष प्रयोग पाया जाता है – चौताल आडाचौताल, गजझंपा, शूल, रुद्र, ब्रह्म, लक्ष्मी इत्यादि।

(3) धमार – यह ध्रुपद शैली से गाये जाने वाला गीत का एक प्रकार है। यह चौदह मात्रा के धमार ताल में गाया जाता है। राधा और कृष्ण इस गीत के नायक होते हैं और होली के अवसर पर अबीर, गुलाल, कंचन की पिचकारियाँ तथा रंग से रानी चुनरियों का रंगारंग वर्णन इसमें होता है। फाग से संबंधित होने के कारण इसे 'पक्की होरी' भी कहते हैं। इसी विषय वस्तु को लेकर होरी नामक अन्य गीतों का भी प्रचलन है जो दीपचंदी तथा त्रिताल में गाये जाते हैं।

धमार गीत ध्रुपद तथा ख्याल के बीच वाली स्थिति के निर्देशक होते हैं। इनकी रचना ख्याल के समान दो तुक वाली होती है। परन्तु गायन शैली ध्रुपद जैसी होती है। इसके विषयों में ध्रुपद जैसे विविधता नहीं रहती। धमार की उद्देश्य गंभीरता से हटकर रंगीन वातावरण पैदा करना है और इसीलिये उसकी शैली लय प्रधान है। लयकारी का यह कार्य उपज अंग कहलाता है।

(4) ख्याल – 'ख्याल' शब्द फारसी का है जो संस्कृत के ध्यान का पर्याय है। मतंग के समय से चली आ रही रागध्यान परम्परा में शुरु में रागों के ध्यान गाये जाते थे जो श्रोता और गायक का एक स्तर पर लाने के लिये प्रयुक्त होते थे, ऐसा समझा जाता था। आज की प्रचलित गायन पद्धति में ताल गायन सबसे अधिक लोकप्रिय है। वर्तमान शास्त्रीय संगीत से वह इतना अधिक घुलमिल गया है कि उसके बिना रागदारी संगीत की कल्पना नहीं की जा सकती। उसकी लोकप्रियता का प्रमाण इससे अधिक और क्या हो सकता है कि वाद्य यंत्रों पर भी ख्याल की ही गायकी बजाई जाती है।

ख्याल गायन के उद्भव के संबंध में कई मत मिलते हैं। एक के अनुसार इसका अविष्कार ई. 14 के अमीर खुसरों ने किया तथा दूसरा यह की यह प्राचीन काल से चली आ रही परम्परा है जिसका ख्याल नाम बाद में दिया गया। कुछ विद्वान इसे प्राचीन प्रबंध गान परंपरा के रूपक नामक प्रबंध से इसकी उत्पत्ति बताते हैं। एक अन्य मत के अनुसार ख्याल लोक संगीत के अन्तर्गत गाये जाते थे। आज भी राजस्थान तथा ब्रज के कुछ प्रदेशों में ख्याल नामक लोक संगीतों की परम्परा प्रचलित है। इस शैली के उद्भव से भिन्न इस गायन

शैली को प्रतिष्ठा दिलाने का श्रेय ई. 18 के सुल्तान मुहम्मद शाह के दरबारी गायक नियामत खाँ (सदारंग) को दिया जाता है। उनकी ख्याल की अनेक रचनायें आज पीढ़ी दर पीढ़ी प्रचलित रही हैं। सदारंग स्वयं प्रसिद्ध ध्रुवपद गायक तानसेन के वंशज थे और इनकी अपनी तथा वंशजों की गायकी ध्रुवपद गायकी थी। परन्तु युग प्रवृत्तियों को ध्यान में रखकर इन्होंने ख्याल गीतों का प्रवर्तन किया जिसमें स्वर सौंदर्य के आविष्कार के लिये पर्याप्त स्थान था। ध्रुवपद की लयकारिता और कव्वाली की तान इन दोनों के सम्मिश्रण से ख्याल गायकी का निर्माण हुआ।

गीत रचना तथा गायन शैली दोनों दृष्टियों से ख्याल का अपना स्थान है। उसका गीत छोटा और केवल दो या तीन पंक्तियों वाला होता है परन्तु उसको गायक अपनी कल्पना से इतना अधिक सजा देता है कि वह गीत नव-नवीन सौंदर्य के साथ खिल उठता है।

(5) तराना – गायन का यह प्रकार ख्याल के प्रकार की ही एक गायकी है। तराना एक फारसी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ है – गीत। संभवतः तराना की उत्पत्ति 'तरन्नुम' शब्द से हुई है। जब कोई शायर अपनी गज़ल को गाकर अर्थात् विशेष धुन के आधार पर प्रस्तुत करता है तो उसे तरन्नुम कहते हैं। तराना के बोल-तदार, दीम, दानी, तदानी, ओदानी, तनोम इत्यादि होते हैं। तराने के बोलों के संबंध में मतांतर देखने में मिलते हैं। कुछ विद्वानों के अनुसार तराना संस्कृति के ओम अनंत हरि नारायण अथवा ओम नारायण अनंत हरि के विकृत शब्द है। द्वितीय मत में विद्वानों के अनुसार यह अरबी भाषा है जिनका प्रयोग नबी, अल्लाह की उपासना के लिये किया जाता है। तीसरे मत में इसके बोलों को निरर्थक बताया गया है जो लय ताल में गाये जाते हैं। गायन का यह प्रकार निरर्थक वर्षों में बनी रचना होती है जो द्रुत लय और वर्ण वैचित्र्य का चमत्कार रहता है। द्रुत, तीनताल, एकताल, झपताल, आडा चौताल आदि तालों में इसकी रचना होती है। कभी-कभी बड़े ख्याल के रूप में लंबे ताल में भी इसकी बंदिश सुनी जाती है।

(6) चतुरंग – चतुरंग प्रबंध का वर्णन बृहत्देशी में प्राप्त होता है लेकिन उसमें खण्डों को 4 राग, 4 ताल और 4 भाषा के पदों से गाया जाता है। आज के चतुरंग में 4 अंग हैं, 4 खंड न हो यह संभव है। राग और ताल के 1-1 ही होते हैं। इसमें सबसे पहले पद, फिर तराने के बोल, तब सरगम और अंत में तबला या मृदंग के पाठ अथवा किसी अन्य भाषा के शब्द रहते हैं। इस रूप में बंदिश में 4 खंड भी अलग-अलग समझे जा सकते हैं। अंगों की दृष्टि से इसमें स्वर, तान, ताल, पद और पाठ ये 5 अंग होते हैं। इस रूप में यह संगीत रत्नाकर के वर्ण स्वर प्रबंध से मिलता है।

(7) लक्षण गीत – जिस गीत में अपने राग का पूरा लक्षण हो, लक्षण गीत कहलाता है। इसका उद्देश्य यह है कि प्रारंभिक विद्यार्थियों को गीत के सहारे राग का परिचय कंठस्थ हो जाये। लक्षण गीत में भी ख्याल के समान दो भाग होते हैं – स्थायी और अंतरा। इसकी गायन शैली ख्याल की तरह होती है। यह अधिकतर उन्हीं तालों में होती है, जिसमें छोटे ख्याल गाये जाते हैं। कभी-कभी ध्रुवपद अंग के भी कुछ लक्षण गीत पाये जाते हैं। अतः यह किसी भी ताल में हो सकता है। तीन ताल में निबद्ध अल्लैया बिलावल का एक लक्षण गीत नीचे देखिये –

स्थाई – कहत बिलावल भेद अल्लैया।
प्रात समय गुनि गावत जेहिको,
ध-ग सम्वाद करैया।

अंतरा – आरोहन मध्यम तीज दैया,
संग धैवत मृदु नि बिचरैया
ग प ध नि सां नि ध प ध नि
ध प म ग म रे सुर लेवैया।।

(ब) उपशास्त्रीय संगीत –

जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है उपशास्त्रीय जिसमें शास्त्रीय संगीत की कुछ विशेषताओं का प्रयोग कर सुगम संगीत को और समृद्ध किया जाता है। इस वर्ग में शास्त्रीय संगीत के अत्यंत ही निकटस्थ गायन प्रकारों का समावेश होता है। इस संगीत प्रकार के अन्तर्गत ठुमरी, टप्पा, होरी, चैती, दादरा तथा कजरी जैसे गायन

प्रकारों को रखा जाता है जिसमें शास्त्रीय संगीत के ख्याल आदि रचनाओं का विशेष प्रभाव होता है। इस प्रकार यह सभी रचनायें उपशास्त्रीय कहलाती हैं।

उपशास्त्रीय संगीत की विधायें –

1. तुमरी – उत्तर हिन्दुस्थानी संगीत पद्धति की गान-विधाओं में तुमरी का अपना एक अलग ही स्थान है जिसमें शास्त्रीय और लोक संगीत दोनों के तत्व विद्यमान हैं। लोक संगीत की तरह सहज रूप से प्रवाहित होने वाला न होकर व्यक्ति प्रधान विस्तार से उत्पन्न होने के कारण यह गीत प्रकार शास्त्रीय है। इसके साथ ही शास्त्रीय संगीत की कड़ी नियमबद्धता से मुक्त होने के कारण लोक संगीत से निकट का संबंध रखता है। उपशास्त्रीय संगीत का यह गीत प्रकार मुख्य रूप से श्रृंगार प्रधान गीत शैली है। इसकी गायन शैली विशिष्ट प्रकार की होती है। शब्दों की कोमलता और स्वरों की नजाकत इस शैली की खास विशेषता है। स्वरों के माध्यम से वही भाव मुखर हो उठते हैं, जो नृत्य में अभिनय के द्वारा व्यक्त होते हैं। दूसरे शब्दों में, तुमरी नृत्य का ही मुखर रूप मानी जा सकती है। इसका आरंभ तथा विकास नृत्य के साथ-साथ ही हुआ है। ऐसे भाव-गीत प्राचीन संगीत में ये जिनको लेकर ही नृत्य तथा अभिनय किया जाता था। इसमें लौकिक और आध्यात्मिक दोनों तरह का श्रृंगार रहता है। इसलिए उनके अनुकूल कोमल शब्दावली और अपेक्षाकृत कोमल रागों का ही प्रयोग होता है किन्तु भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से रागशुद्धि जरूरी नहीं होता। इस श्रृंगारिक विधा में स्वरों का भावानुकूल वैचित्र्यमय प्रयोग दृष्टिगोचर होता है। जहाँ स्वर और शब्द दोनों का परस्पर पूरक प्रयोग होता है। यह लय में श्रेष्ठ एवं स्त्रियोचित गायकी मानी जाती है। इसके रागनियमों में कठिबद्धता नहीं होती, अर्थात् अविर्भाव तिरोभाव का खुलकर प्रयोग किया जाता है। भाव एवं माधुर्य प्रकट करने हेतु ध्वनिक का उतार चढ़ाव भी महत्वपूर्ण स्थान रखता है। तुमरी नाजुक एवं चपल मिजाज होने के कारण उसको गाने के लिए वैसे ही रागों को चुना जाता है। खमाज, काफी, मांड, बरवा, तिलंग, पीलू तथा भैरवी जैसी राग इसके लिए पसंद किये जाते हैं। दादरा, कहरवा, जैसे द्रुतलय के ताल इसके लिए पसंद किये जाते हैं। इसकी कोमलता के अनुसार छोटे-छोटे तानों एवं मुरकियों का प्रयोग इसमें किया जाता है। मुख्य राग के अतिरिक्त दूसरे रागों का हल्का सा स्पर्श इसमें निषिद्ध नहीं, बल्कि आवश्यक समझा जाता है।

तुमरी के ऐतिहासिक पक्ष पर विचार किया जाय तो प्राचीन संगीत शास्त्र के अन्तर्गत इसे हम 'रूपक संगीत' के समकक्ष मान सकते हैं। तुमरी गायन के साथ प्राचीन काल से ही कथक नृत्य शैली का बहुत नजदीकी रिश्ता रहा है। उस जमाने में कथक कलाकार साभिनय रूप से तुमरी की प्रस्तुति किया करते थे और आज भी यह सिलसिला चली आ रही है। तुमरी दो अंगों में गायी जाती है –

- (1) पूरब अंग
- (2) पंजाब अंग

पूरब अंग लखनऊ तथा बनारस में प्रचलित है और बोल-बनाव के लिये प्रसिद्ध है। कदर पिया और लगन पिया वाजिद अली शाह के जमाने के प्रमुख तुमरी गायक थे। पंजाब अंग की तुमरी अपनी पृथक विशेषता रखती है। इसकी गायकी टप्पे की छोटी-छोटी तानों तथा विचित्र स्वरावलियों को लेकर आगे बढ़ती है। विगत कुछ वर्षों से तुमरी एक अत्यन्त लोकप्रिय गीत प्रकार है, इसीलिये प्रायः सभी ख्याल गायक तुमरी भी गाते दिखाई देते हैं।

2. दादरा – दादरा तुमरी परिवार का ही एक भेद है, जो तुमरी की तुलना में थोड़ा अधिक हल्का अधिक शब्दाधारित है। प्रायः दादरा ताल में ही गाये जाने के कारण ही इसे दादरा कहा जाता है, किन्तु इसके लिये कहरवा, खेमटा, चाचर इत्यादि तालों का भी प्रयोग होता है। आजकल कई तुमरियाँ दादश ताल में और दादरे कहरवा में गाये जाते हैं।

दादरा की उत्पत्ति के संदर्भ में कोई शास्त्रोक्त उल्लेख तो नहीं मिलता किन्तु संगीताचार्यों ने दादरा गायन को लोक संगीत की एक रसरंग धारा माना है। इसमें बोल-बनाव, मुर्की, खटके इत्यादि अलंकारों के प्राबल्य के शब्दों का चपलापूर्वक निर्वहन किया जाता है। इस प्रकार दादरे में भावात्मक गीत तत्व, ताल, राग तथा मधुर एवं भावपूर्ण स्वर संगतियों का सुमेल बड़ा मनमोहक हृदय ग्राही और कलात्मक होता है।

दादरा मूलतः लोक संगीत से आया है। इसलिये उसमें लय की झूल बड़ी सहज होती है। इसमें बोलबनाव भी लय के साथ होता है। यदि देखा जाये तो तुमरी और दादरे के बीच अधिक अंतर नहीं है, चूँकि

दुमरी में बोल विलंबित लय में बंधे होते हैं जिसमें शब्दों का उच्चारण एक साथ पूर्ण रूप से न होकर स्वरों के फैलाव के साथ होता है। किन्तु दादरे में बंदिश लय में बंधी होती है, अतः इसमें विस्तार की गुंजाईश नहीं होती है।

3. टप्पा – यह एक विशिष्ट गीत शैली है, जिसका उद्गम पंजाब के पहाड़ी प्रदेशों में हुआ और विकास अवध के दरबार में दुमरी के साथ-साथ हुआ। पंजाब के मिया शोरी इसके जन्मदाता माने जाते हैं। यह शैली अत्यन्त चंचल छिछली मानी जाती है। इसमें प्रत्येक शब्द के साथ छोटी-छोटी तालें एवं मुरकियाँ ली जाती हैं। परन्तु दुमरी की भांति अभिनय का अंग इसमें बिल्कुल नहीं रहता, इसकी शब्दावली तथा गायकी पर पंजाबी लोक धुनों का प्रभाव अवश्य देखा जाता है। जिस ठेके में यह गाया जाता है, उसे 'पंजाबी' या पंजाबी त्रिताल कहते हैं।

यह शैली शास्त्र के कठोर नियमों से पूर्णतया जकड़ी हुई नहीं है, किन्तु फिर भी इसका गायन इतना सरल नहीं है। सामान्य गायक कलाकर इस विधा में बिना कठोर अभ्यास के दक्षता प्राप्त नहीं कर सकते क्योंकि इसे गाने के लिए चपल और तैयार कंठ की आवश्यकता होती है। इसमें रसोत्पत्ति अथवा भावाभिव्यक्ति की ओर उतना ध्यान नहीं दिया जाता जितना क्षिप्र बोल तानों के द्वारा चमत्कार उत्पन्न करने की ओर। टप्पे का कुशल गायन गमक, खटका, तान, फटका आदि की सुंदरता और तीव्र गति में सफाई के साथ गाने में निहित है। टप्पा में ख्याल दुमरी की भांति एक स्थायी और अंतरा होता है। दुमरी में तानें नाजुक, मृदुल, स्फाटिक माला के समान गूंधी हुई होती हैं, परन्तु टप्पे की तानें पारे के दानों की भांति बिखरी हुई प्रतीत होती हैं। वर्तमान काल में यह शैली प्रायः प्रचार में कम देखने को मिलती है किन्तु पंजाब में लोक संगीत के अन्तर्गत यह किसी अंश में पाया जाता है।

4. होरी – 'होरी' एक रंग और उल्लास भरा त्यौहार है। बसंत पंचमी के अवसर पर रंगारंग होलिकोत्सव मनाया जाता है। इन दिनों गाँव-गाँव में ढोल, डफ, करताल की लय पर फागुन मांस के गीत गाये जाते हैं और उस पर नृत्य किया जाता है। फल्गुन बसंत ऋतु की अगवानी करने वाला माह है। श्रृंगार भाव के लिये यह काल अनुकूल रहने से इस समय श्रृंगारिक गीतों की धूम मचना स्वाभाविक है। इन्हीं गीतों के लिये 'होरी' नाम का प्रचलन हुआ है। होरी शब्द की व्युत्पत्ति शास्त्रीय संगीत के ध्रुपद शैली के साथ जोड़ा जा सकता है क्योंकि इसके साहित्य में प्रायः होरी का वर्णन मिलता है। गायकों द्वारा स्वर का फैलाव करते हुये तथा बोला बनाव आदि के द्वारा जब फाग रचनाओं को प्रस्तुत किया जाता है तो वह होली उपशास्त्रीय संगीत के अन्तर्गत आती है। इन गीतों द्वारा उत्साह लक्षित होता है। पदों के वर्ण विषय में अधिकांशतः राधा-कृष्णा और गोपियों की फाल्गुन मास की लीलाओं का वर्णन होता है। इस प्रकार श्रृंगार रस के प्रयोग एवं वियोग दोनों रूप इन गीतों में दिखाई देते हैं। यह मूलतः चंचल प्रकृति के रागों-काफी, पहाड़ी आदि में बड़े ही रसीले ढंग से गाये जाते हैं। बहुधा दीपचंदी, कहरवा वालों में इसका निर्वहन सौन्दर्यदायक होता है। यह गीत प्रकार उपशास्त्रीय एवं लोक दोनों ही विधाओं में शोभनीय लगता है। विशेष रूप से उत्तर प्रदेश के ब्रज क्षेत्र में इन गीतों की बहुलता रहती है। इस प्रकार होली के मन भावन वातावरण में इन गीतों द्वारा मानव मन झंकृत हो उठता है अर्थात् फाग की मस्ती में झूम जाता है।

5. नाट्य गीत – भारतीय संगीत में नाट्य कला या नाटक विधा के स्वरूप व मनोरंजन के क्षेत्र में विस्तृत एवं विपुल प्राचीन परंपरा रही है। यह भी निर्विवाद सत्य है कि नाटकों में प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक संगीत का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राचीन नाट्य एवं संगीत के ग्रंथों के अनुसार नाटक के आरम्भ से लेकर अंत तक संगीत का प्रयोग नाटकों में आवश्यक रूप से किया जाता है।

निष्कर्ष:

निष्कर्षतः मध्यप्रदेश में शास्त्रीय संगीत की धारा का विशेष महत्व है, और इसने स्थानीय संगीत की विभिन्न परंपराओं पर प्रभाव डाला है। मध्यप्रदेश में खंड संगीत की परंपरा प्रचलित है, जो मुख्य रूप से मालवा क्षेत्र में पाई जाती है। खंड संगीत शास्त्रीय संगीत का एक प्रमुख अंग है और इसमें राग, ताल और लय का महत्वपूर्ण स्थान है। धमार-खयाल मध्यप्रदेश में प्रसिद्ध है, और इसमें हिंदुस्तानी शास्त्रीय संगीत की परंपरा का प्रभाव है। यहाँ कई धमार-खयाल गायक और गायिकाएँ हैं, जो इस परंपरा को बढ़ावा देते हैं। मध्यप्रदेश में थुमरी और तप्त-खयाल की परंपरा भी है, जो पूरे क्षेत्र में सुनी जाती है। ये गायन शैलियाँ शास्त्रीय संगीत की विभिन्न रंगों और भावों को प्रकट करती हैं। मध्यप्रदेश में तालमद्दल संगीत की भी एक विशेष परंपरा है, जो

लोक संगीत की परंपरा का हिस्सा है। यह संगीत विभिन्न तालों और लोकगीतों के साथ सम्बद्ध है। इन संगीत की धाराओं का प्रभाव मध्यप्रदेश की संस्कृति, कला, और सांस्कृतिक जीवन पर महत्वपूर्ण रहा है। ये परंपराएं संगीत की धरोहर को संजीवित करती हैं और समृद्धि का स्रोत बनती हैं।

संदर्भ –

1. विलायत हुसैन खाँ, – संगीतज्ञों के संस्मरण, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 1988
2. कन्हैयालाल अग्रवाल – विन्ध्य क्षेत्र का ऐतिहासिक भूगोल, नवीन पब्लिकेशन, नई दिल्ली, संस्करण 1995
3. भगवतशरण शर्मा – भारतीय संगीत का इतिहास, गायत्री पब्लिकेशन एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, रीवा, संस्करण 1980
4. भगवत शरण शर्मा – भारतीय इतिहास में संगीत, 1988, गायत्री पब्लिकेशन पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रीब्यूटर्स, रीवा, संस्करण 1988
5. डॉ. केशवचन्द्र जैन – भारत का इतिहास, म. प्र. हिन्दी, ग्रंथ अकादमी, संस्करण 1992
6. वासुदेव उपाध्याय – प्राचीन भारतीय, अभिलेखों का अध्ययन, राजस्थान हिन्दी, ग्रंथ अकादमी, संस्करण 1861
7. विमला गुप्ता – आधुनिक हिन्दी प्रगति, संगीत तत्व, काशी नगरी प्रचारिणी सभा, संस्करण 1987
8. उमा मिश्र – काव्य और संगीत का पारस्परिक सम्बंध, दिल्ली पुस्तक सदन, संस्करण 1962
9. अकादमी सिंह – तुलसी की काव्य कला उनकी रचनाओं में, आगरा सरस्वती पुस्तक सदन, संस्करण 1962
10. ओ.एस. श्रीवास्तव – मध्यप्रदेश का आर्थिक विकास, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 1987
11. अहोबल – संगीत पारिजाल, हा थरस, संगीत, कार्यालय, संस्करण 1956
12. गोविंदराव राजुस्कर – संगीत शास्त्र पराग, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, संस्करण 1984
13. पन्नालाल मदन – संगीत शास्त्र विज्ञान, जालंधर पंजाब किताब घर, संस्करण 1987
14. इन्द्राणी चक्रवर्ती – स्वर और रागों के विकास में वाद्यों का योगदान, वाराणसी, चौखन्ना ओरियण्टल-किया, वाराणसी, संस्करण 1979
15. लालमणि मिश्र – भारतीय संगीत वाद्य, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण 1973
16. विमल चौधरी – कान्तराय राग व्याकरण, दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, संस्करण 1981
17. रामकृष्ण व्यास – राग प्रभाकर, इलाहाबाद, सरला प्रकाशन, इलाहाबाद, संस्करण 1974,
18. उमेश जोशी – भारतीय संगीत का इतिहास, फिरोजाबाद, आगरा मानसरोबर, प्रकाशन, फिरोजाबाद, संस्करण 1989
19. सुलोचना – बृहस्पति तानसेन एवं अन्य कलाकार, पटना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1976
20. डी.एस. मिश्रा – हिन्दुस्तानी संगीत के रत्न, पटना, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 1976
21. जीतन सिंह – रीवा राज्य दर्पण, म.प्र. हिन्दी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, संस्करण 1988